शोध मंथन Vol. XIII No.I Jan.-Mar.2022 ISSN: (P) 0976-5255 (e) 2454-339X
Impact Factor 8.783 (SJIF)

औपनिषदिक ज्ञान का आधार : गुरू–शिष्य संवाद

प्राप्तिः 12.01.2022
स्वीकृतः 15.03.2022

डॉ० अर्चना गिरि
एसोसिएट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग
बरेली कॉलेज, बरेली
ईमेलः *archana.giri2702@gmail.com*

सारांश

गुरू की महिमा का वर्णन शास्त्रों में वर्णित संसार का सार है। गुरू की कृपा को सभी ने स्वीकार किया है। उपनिषदों में तो सारा ज्ञान ही गुरू शिष्य संवाद के माध्यम से निखर कर जगत के समक्ष आया है। गुरू अपने शिष्य को अल्पज्ञान से अनन्त सुख की ओर ले जाता है। गुरू की विद्या अनन्त सुखदायक, अनन्त शान्तिदायक और परमार्थ को दिलाने वाली है। गुरू की विद्या को गौरवमयी व प्रसंशित माना गया है। वो किसी भी रूप में प्राप्त हो सकती है चाहे सत्संग हो या शास्त्र अध्ययन।

मुख्य बिन्दु

गुरू, शिष्य, पार्थना, विद्या।

गुरू ही ईश्वर से जीव को मिलाने का दृढ़ माध्यम हे। बिना गुरू के लौकिक ज्ञान तो प्राप्त कर सकते हैं परन्तु तत्व का ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते हैं। उपनिषदों में ज्ञान का ही वर्णन किया है, जिसे गुरू ने शिष्य को प्रदान किया है। यह वही ज्ञान है जो मुक्ति का मार्ग प्रदर्शित करती है। गुरू शिष्य परम्परा में ज्ञान का प्रारम्भ शान्तिपाठ से होता है। गुरू एवं शिष्य दोनों ही अपने परम सत्य स्वरूप का स्मरण करके उससे अपना सम्बन्ध जोड़ते हैं। मन और बुद्धि को लगाकर अपने भीतर शक्ति, सामर्थ्य और असीम आनन्द की प्राप्ति की कामना से बाध्य विषयों से मन को नियन्त्रित करके सर्वोच्च सत्ता के प्रकाश का अनुभव करते हैं। तीनों प्रकार के विघ्नों की शान्ति हो ऐसी प्रार्थना करते हैं अदृष्ट प्रकृति की शक्तियाँ विघ्न न डालें, आसपास का वातावरण विघ्न न डाले। शरीर विघ्न न डाले, कुविचार न आयें इत्यादि के रोकथाम के लिए गुरू और शिष्य दोनों प्रार्थना करते हैं तथा मन, वचन और कर्म से शान्त मन चाहते हैं। ज्ञान प्राप्ति के लिए शान्त मन साधक को आशातीत सफलता देता है। गुरू शिष्य से कहता है कि ''अपने साथ सर्वदा ईश्वर को जानों, जगत का भोग करो पर आसक्ति नहीं, क्योंकि भोग्य पदार्थ किसी का नहीं है।''[1] संसार के गुरू के रूप में श्री कृष्ण ने भी गीता में कहा है कि– ''जिस परमेश्वर से सम्पूर्ण जीवों की उत्पत्ति हुई है जिससे सम्पूर्ण जगत व्याप्त है। अपने कर्म से उसे प्रसन्न करो। जो भी भोग्य पदार्थ हैं वे सब परमेश्वर के हैं इसमें ममता और आसक्ति नहीं रखनी चाहिये।''[2] गुरू शिष्य संवाद के रूप में केनोपनिषद में तत्व का विवेचन किया गया है। शिष्य ने अपने गुरूदेव से चार प्रश्न किये हैं– वह कौन सी शक्ति है जो मन का संचालन करती है तथा उसे विषय में लिप्त कराती है? प्राण किस दिव्य शक्ति के बल से चलता है? कौन वाणी को क्रियाशील करता है? कौन सी शक्ति है जो ज्ञानेन्द्रियों को विषयों में लगाती है? इस उपनिषद में गुरू शिष्य के प्रश्न का उत्तर संकेतों से देते हैं और कहते हैं कि ''जो श्रोत्र का भी श्रोत्र है, मन

का भी मन है, वाणी का भी वाणी है, वही प्राणों का प्राण और चक्षु का चक्षु है। इसी की शक्ति पाकर सब अपना कार्य करने में समर्थ हो रहे हैं।''[3] इसकी व्याख्या करते हुये श्री शंकराचार्य ने कहा है कि–''श्रोत्र की सामर्थ्य सर्वान्तर चेतन आत्मज्योति के रहने पर ही रह सकती है। न रहने पर नहीं। इसी प्रकार मन चित् ज्योति के प्रकाश के बिना संकल्प और निश्चय आदि में समर्थ नहीं हो सकता है। क्योंकि वह मन का भी मन है।''[4] यहाँ गुरू बहुत बड़े धर्म संकट में है कि किस प्रकार शिष्य को ब्रह्म के विषय में उपदेश करें। क्योंकि जो वस्तु इन्द्रियों का विषय होती है उसी का जाति, गुण और क्रिया विशेषणों के द्वारा दूसरे को उपदेश कर सकते हैं किन्तु ब्रह्म जाति रूप विशेषणों वाला नहीं है। इसलिए वाणी से उसे बताना कठिन है। शिष्य पुनः पूछता है कि किसी प्रकार ब्रह्म तत्व का बोध करा दें। गुरू उत्तर देता है कि वह ब्रह्म तत्व वाणी से सर्वथा अतीत है। चेतन प्राणियों में जो वाक् शक्ति है तथा जो वर्णों में स्थित है, वह वाक् है जो चैतन्य ज्योति स्वरूपा है। जिसकी उपासना लोग मन और बुद्धि से करते हैं। वह ब्रह्म नहीं है, क्योंकि मन कामादि वृत्तियों वाला है। ऐसे मन के द्वारा मन के प्रकाशक चैतन्य ज्योति का निश्चय या मनन नहीं किया जा सकता है। ज्ञानेन्द्रियाँ जिसकी शक्ति और प्रेरणा से अपने–अपने विषयों का प्रत्यक्ष करने में समर्थ होती है, अर्थात् उसकी प्रेरणा से ही प्राण विचरता है। इस प्रकार इन्द्रियों का संचालन प्राकृत शक्ति से होता है, परन्तु वह ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप नहीं है। ''वह तो अन्तर्यामी होने से किसी इन्द्रिय का विषय नहीं है। अतः वाणी से कदापि व्यक्त नहीं किया जा सकता है। उसकी शक्ति से ही वक्ता बोलने में समर्थ होता है। उसी को तू ब्रह्म जान। वह मन और बुद्धि से जानने वाला तत्व नहीं है। वह चक्षु से भी अतीत है। परन्तु इन्द्रियों को विषयों की ओर ले जाने की शक्ति वही देता है। वह परमेश्वर श्रोत्रादि इन्द्रियों का ज्ञाता प्रेरक और उनको सुनने की शक्ति देता है। प्राण उसी से चेष्टायुक्त होता है।''[5] यहाँ गुरू ने ब्रह्म का जो स्वरूप शिष्य को बताया है वह सर्वशक्तिमान का है, ज्ञाता का है, प्रेरक व प्रवर्तक है। यह सब कुछ गुरू संकेत से समझाता है। यह ब्रह्म का पारमार्थक स्वरूप है। इसमें ज्ञान की विलक्षणता है। गुरू को शिष्य के संकेत से ये समझ में आता है कि मानो शिष्य कह रहा है कि मैं ब्रह्म को भली भाँति जान गया हूँ। गुरू ने कहा था कि तू आत्मा ही ब्रह्म है। गुरू ने शिष्य की बुद्धि को विचलित किया है जिससे शिष्य की बुद्धि को स्थिर किया जा सके और कहा है कि देवता भी यदि कहे कि मैं ब्रह्म को जातना हूँ तो वह भी असत्य है क्योंकि देवता और मनुष्य ब्रह्म का अंशमूल है। वह तो अनन्त है, शान्त है, नित्य है। सुगमता से जानने योग्य नहीं है। जब शिष्य की बुद्धि संकेतों को समझने लगती है तो शिष्य कहता है कि ''मैं तो ब्रह्म को जानता भी हूँ और नहीं भी जानता हूँ। यहाँ अविदित ब्रह्म का प्रतिशेध किया गया है। ब्रह्म विदित और अविदित दोनों से परे है। यहाँ अभिमान को पूर्णतया त्यागना पड़ता है। ज्ञातापन का अभिमान गुरू के संकेतों को समझने नहीं देता है। इस प्रकार के गुरू शिष्य के व्यवहार के संकेतात्मक ज्ञान के संदर्भ में श्रुति कहती है–''इसकी भाषा में विरोधाभास है। ब्रह्म तत्व चिन्तन का विषय नहीं है। वह अचिन्तनीय है। यही बात जोर देकर श्रुति कहती है कि ब्रह्म ज्ञान का विषय नहीं है। कोई भी साधन ब्रह्मतत्व तक नहीं पहुँचा सकता है। जानने का अभिमान ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं होने देता है।''[6]

यहाँ गुरू शिष्य के विचलित बुद्धि को स्थिर करता है और शिष्य को ब्रह्म तत्व के उपलब्धि द्वार तक ले जाता है और कहता है कि– ''श्रुति कहती है कि ब्रह्म तत्व चिन्तन का प्रकाशक है। वह अविषय है। क्योंकि तत्व बुद्धि का विषय नहीं है। अपितु बुद्धि का प्रकाशक है। श्रुति आत्मा की

उपलब्धि के लिए वृत्ति पर दृष्टि डालने की बात करती है। जो वृत्ति विषय का ज्ञान कराती है। वही वृत्ति दृष्ट का भी ज्ञान करा सकती है। वृत्ति मस्तिष्क की क्रियाशीलता है। यह शरीर से भिन्न वस्तु है। सारे ज्ञानों का कारण है। यही बोध है क्योंकि ज्ञान का कारण है।''[7] वेदान्त दर्शन सीधे रूप से चेतन का ध्यान करने को कहता है। परन्तु इस चेतन को पकड़ा कैसे जाय? जाना कैसे? यहीं पर वृत्ति को समझकर वृत्ति के दृष्टि पर दृष्टि डालने से ही अनुभव व ज्ञान होगा। यह बात शिष्य को गुरू समझाता है। तभी वह ब्रह्म को जान पायेगा। यही ज्ञान परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान है। मंत्र कहता है कि ज्ञान से अमृत रूप परब्रह्म की (पुरूषोत्तम) की प्राप्ति होती है। गुरू शिष्य से कहता है कि ''इतना जानने पर ही ब्रह्म ज्ञान की उत्कृष्ट इच्छा जाग्रत होगी। इस ज्ञान का जागरण कराना उसको अविदित जानना ही मनुष्य योनि का धर्म है। क्योंकि मानव शरीर में ही यह ज्ञान प्राप्त हो सकता है। गुरू यही चाहता है कि शिष्य दुर्लभ शरीर का महत्व समझे और उसके रहते ही अपनी बुद्धि व विवेक से उस परमात्मा की प्राप्ति का प्रयास करे और वृत्ति पर ध्यान लगाकर उस तत्व को जाने। संसार के त्रिविध दुख, त्रिविध ा तापों से बचने का यही एकमात्र उपाय है।''[8] यहाँ गुरू अपने शिष्य को बार–बार साधन परायण होकर प्रत्येक प्राणी में परमात्मा का साक्षात्कार करने की दीक्षा देते हैं। जिससे शिष्य को भव सागर से पार उतरने में सहायता मिले। गुरू जो बार–बार परमतत्व की प्राप्ति 'वृत्ति' नामक द्वार से मानी है उसी पर ध्यान केन्द्रित करने को कहता है। वृत्ति को देखने के लिए ईश्वर के दृष्टा रूप पर ध्यान दे तो समझ मे आयेगा कि वह दृष्टा ही ब्रह्म है। केनोपनिशद में चार खण्ड हैं जिसमें प्रथम और द्वितीय खण्ड में ब्रह्म के पारमार्थिक, अनिर्वचीन, निर्गुण रूप को गुरू शिष्य को समझाते हैं। यह वही निर्गुण तत्व है जिसे यजुर्वेद में श्वेताश्वतर ऋषि अपने सन्यासी शिष्यों को देते हैं और कहते हैं कि ''यह पुरूष, विज्ञानात्मक या जीवात्मा भी जगत का कारण नहीं हो सकता है। वह अस्वतन्त्र है। वह कर्मों के अधीन है। उसका सृष्टि, स्थिति और नियमन में सामर्थ्य नहीं है। अतः कारण तत्व कुछ और ही है जब ध्यान योग से देखा तो अपने गुणों से ढकी हुई उन परमात्मा देव की अचिन्त्य शक्ति का साक्षात्कार किया जो परमात्मा देव अकेला ही उस काल से लेकर आत्मा तक पहुँचे सम्पूर्ण कारणों पर शासन करता है। यह वेद वर्णित परब्रह्म ही सर्वश्रेष्ठ आश्रय और अविनाशी है। उसमें तीनों लोक स्थित हैं। वेद के तत्व को जानने वाले उस तत्व को जानकर जन्म–मृत्यु से मुक्त हो जाते हैं।''[9] श्वेताश्वतर ऋषि भी उसको ऐसा परब्रह्म बताते हैं जो जगत का कारण है। गुरू अपने विलक्षण ज्ञान से शिष्य को यह बताता है कि ''विनाशशील जड़ वर्ग एवं अविनाशी जीवात्मा इन दोनों के संयोग से बने हुये व्यक्त और अव्यक्त रूप इस विश्व को परमेश्वर ही धारण और पोषण करता है तथा जीवात्मा इस जगत के विषयों का भोक्ता बने रहने के कारण प्रकृति के अधीन असमर्थ होकर उसमें बँध जाता है और तभी (जाग्रत होकर) उसके स्वरूप को जानकर बन्धन से मुक्त हो जाता है।''[10] श्वेताश्वतर ऋषि स्वयं उस परमात्मा को जान चुके थे परन्तु गुरू होने के कारण शिष्य को बताने से कुछ छूट न जाये इसलिये उसको ईश्वर का स्वरूप, प्रकृति का स्वरूप, ईश्वर की विलक्षणता और तत्वों को जानने का फल भी विस्तार से बताते हैं। श्रीमद्भगवद् गीता भी यही बताती है कि ''इस संसार में क्षर (नाशवान) और अक्षर (अविनाशी) दो प्रकार के ही पुरूष हैं। उत्तम पुरूष तो विलक्षण ही है जो परमात्मा इस नाम से कहा गया है वही अविनाशी ईश्वर तीनों लोकों में प्रविष्ट होकर सबका भरण पोषण करता है। हे पार्थ! मेरे द्वारा गुणों और कर्मों के विभाग से चार वर्णों की रचना की गई है। सृष्टि का आदिकर्ता होने पर भी तू मुझे अकर्ता जान क्योंकि कर्मों के फल में मेरी स्पृदा नहीं है।''[11] ब्रह्म तत्व का रहस्य इतना गहरा है कि इसको समझने में ऋषियों ने अपनी पूरी शक्ति

और अवस्था लगा दी है। निर्गुण ब्रह्म का निराकार रूप समझाने में श्वेताश्वतर गुरू और ऋशि ने अपने शिष्य को वह ज्ञान भी दिया जो उनके जीवन की पूँजी थी। जैसे– ''सर्वज्ञ एवं अज्ञानी, सर्वसमर्थ और असमर्थ ये दो अजन्मा आत्मा हैं तथा इनके भोगने वाले जीवात्मा के लिये उपयुक्त भोग सामग्री से उक्त अनादि प्रकृति तीसरी शक्ति है। इन तीनों में जो ईश्वर तत्व है। वह शेष दोनों से विलक्षण है। क्योंकि वह परमात्मा अनन्त सम्पूर्ण रूपों वाला और कर्तापन के अभिमान से रहित है। जब मनुष्य इन तीनों अर्थात् ईश्वर, जीव, प्रकृति को ब्रह्म रूप में प्राप्त कर लेता है, तब मुक्त हो जाता है। क्योंकि प्रकृति विनाशशील है, इसको भोगने वाला जीवात्मा अमृत स्वरूप अविनाशी है। इस विनाशशील जड़ तत्व और चेतन आत्मा दोनों को एक ईश्वर अपने शासन में रखता है। यह जानकर निरन्तर ध्यान करने से, मन लगाने से, तन्मय हो जाने से अन्त में उसी को प्राप्त हो जाता है फिर समस्त माया की निवृत्ति हो जाती है, इसी ध्यान में प्रकाशमय परमात्मा का स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। तभी मनुष्य के सभी क्लेश नष्ट हो जाते हैं तब जन्म मृत्यु का अभाव हो जाता है। ऐसी स्थिति में योगी स्वर्गलोक के भी ऐश्वर्य का त्याग djdsl oEkk fo"kq) iwkZdke gkst krk gS**[12]

इस प्रकार इस प्रसंग में उपनिषदों में प्राप्त ज्ञान का आधार जिन दो गुरूओं को दिया गया उन्होंने सर्वदा शिष्य के उद्धार की बात सोची है। अपने ज्ञान का अधिकारी अपने पुत्र को भी नहीं माना जो शिष्य आसक्तमन वाला नहीं था उसे ही ब्रह्म विद्या का ज्ञान कराया। यह ज्ञान ही गुरू–शिष्य परम्परा से जगत में व्याप्त है। यह ज्ञान ही ह्रदय स्थान से परमात्मा को प्रत्यक्ष करता है लेकिन प्रत्यक्षीकरण बहुत कठिन है, जप, तप, संयम, धैर्य, जिज्ञासा, इन्द्रियों की एकाग्रता की आवश्यकता होती है। इसके लिए बुद्धि भी योग से युक्त होनी चाहिये गीता के 10वें अध्याय में ऐसी ही बुद्धि को देने की बात श्रीकृष्ण करते हैं वे भी कहते हैं कि इस बुद्धि योग के द्वारा मेरे स्वरूप को वही जानता है जो सत्य, तप और सम्यग् ज्ञान से युक्त हो। छल, कपट, कुटिलता, असत्य का उसमें समावेश भी न हो। तभी साधक ब्रह्मतत्व को प्राप्त कर सकता है। मुझे प्राप्त कर सकता है।

संदर्भ

1. ईशावास्योपनिषद् – 1 मन्त्र।
2. श्रीमद्भगवद् गीता – 18 अध्याय, 46वाँ श्लोक।
3. केनोपनिषद (प्रथम खण्ड) मन्त्र 2
4. केनोपनिषद (प्रथम खण्ड) मन्त्र 2 (शांकर भाष्य)
5. केनोपनिषद (प्रथम खण्ड) मन्त्र 4, 5, 6, 7, 8
6. केनोपनिषद (द्वितीय खण्ड) मन्त्र 1, 2, 3
7. केनोपनिषद (द्वितीय खण्ड) मन्त्र 4
8. केनोपनिषद (द्वितीय खण्ड) मन्त्र 5
9. श्वेताश्वतर उपनिषद (पहला अध्याय) 2, 3, 7वाँ मन्त्र।
10. श्वेताश्वतर उपनिषद (पहला अध्याय) 8वाँ मन्त्र।
11. श्रीमद्भगवद् गीता – 15वाँ अध्याय – 16, 17 श्लोक 4 अध्याय – 13 श्लोक।
12. श्वेताश्वतर उपनिषद (पहला अध्याय) 9, 10, 11, 12वाँ मन्त्र।